



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 8.4  
 IJAR 2021; 7(6): 329-332  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 19-04-2021  
 Accepted: 24-05-2021

## डॉ. नीरव अडालजा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,  
 डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज,  
 दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,  
 भारत

## समकालीन महिला कथाकारों के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श

### डॉ. नीरव अडालजा

#### प्रस्तावना:

विगत तीन दशकों में हिन्दी-उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अभूतपूर्वक स्त्रीवादी लेखन और रचना-दृष्टि की सक्रियता की आहट सुनाई पड़ रही है। इनमें उपन्यास लेखिकाओं का विशेष योगदान है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में उससे जुड़ी संस्थाओं तथा यथास्थितिवादी हितों के बीच टकराहट का होना स्वाभाविक है। औद्योगिक क्रांति, प्रौद्योगिकी के विकास, महानगरीकरण, सूचना-प्रौद्योगिकी के विस्फोट, नए कानूनों की उपस्थिति, वोट-बैंकों की ज़रूरत, बाज़ारवाद, वैश्वीकरण तथा उपभोक्तावाद आदि अनेक घटकों के कारण वैयक्तिक विघटन और पारिवारिक विघटन तीव्रतर हो गया है। सूचना-प्रौद्योगिकी तथा विदेशों से संपर्क के निरंतर बढ़ते अवसरों ने स्त्री-पुरुष संबंधों के पहले से चले आ रहे मानकों की नीवें हिला दी हैं। इन्हीं का समवेत स्वर स्त्री-विमर्श के केन्द्र में है, जिसमें स्त्री अब तक स्वयं के लिए वर्जित तथा पुरुष द्वारा एकाधिकृत क्षेत्रों में बराबरी की मांग करती हुई डंके की चोट पर आगे बढ़ रही है। यह परिवर्तन स्त्रीवादी दृष्टि से लिखे गए उपन्यासों में कलात्मक स्तर पर अभिव्यक्त हुआ है।

स्त्री-विमर्श के माध्यम से प्रशंसनीय रूप में हिन्दी में समकालीन लेखिकाओं द्वारा रचित उपन्यासों में स्त्री-मुक्ति, उसकी सुरक्षा और स्त्री के अधिकारों के संदर्भ में एक गंभीर चिंतन को व्यापक धरातल पर उभारा गया है। स्त्री उपन्यासकारों ने अपने औपन्यासिक लेखन के केन्द्र में स्त्री जीवन के जिन मुद्दों को रखा है, उनमें समाज व परिवार में स्त्री की चिंतनीय दशा, स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व, स्त्री का शोषण, स्त्री की आर्थिक निर्भरता, स्त्री की पुरुष के समकक्ष अधिकारों की मांग और प्रत्येक क्षेत्र में वरण की स्वतंत्रता की इच्छा प्रमुख है। इन उपन्यासों की बनावट और बुनावट इन्हीं मुद्दों को पक्ष और विपक्ष में रखते हुए स्त्रीत्व को पूर्णता-प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ाती है। स्त्री कथाकारों ने स्त्री-जीवन से जुड़े इन तमाम पहलुओं और इन सबके बीच अपनी नई राह बनाती व पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देती स्त्री की दबी व मुखर पीड़ा को पूरी संवेदनशीलता के साथ कथा-साहित्य में प्रस्तुत किया है।

हिन्दी कथा-साहित्य को महिला-लेखन के माध्यम से समृद्ध करने वाली लेखिकाओं में कृष्णा सोबती का नाम शीर्षस्थ है। उन्होंने 'मित्रो मरजानी' (1967) ज़िदंगीनामा (1979) दिलोदानिशा (1993) और 'समय-सरगम' (2000) जैसे उपन्यासों की रचना के द्वारा स्त्रीगत संवेदना को बड़े सूक्ष्म स्तर पर अभिव्यक्त किया है। उनके यहां सामाजिक मान्यताओं व रूढ़ परंपरा की मार झेलती स्त्री का संघर्ष भी है, तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था से टकराती स्त्री का प्रखर स्वर भी। 'मित्रो मरजानी' उपन्यास में पहली बार किसी महिला लेखिका द्वारा स्त्री की 'समर्पिता' इमेज को तोड़कर अपनी दैहिक ज़रूरतों के पक्ष में बिना किसी हिचक के मुखर स्त्री को एक नए रूप में प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास के लिए आलोचकों ने कृष्णा सोबती पर अश्लीलता का आरोप भी लगाया है।

उषा प्रियंवदा के पहले दो उपन्यासों 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1961) तथा 'रुकोगी नहीं राधिका' (1967) में स्त्री को दो अलग-अलग छवियों का चित्रण है। 'पचपन खंभे लाल दीवारें' पारिवारिक परिस्थितियों में पिसती, मध्यमवर्गीय समाज के यथार्थ को उद्घाटित करती सुषमा की अंतर्व्यथा का लेखा-जोखा है, जबकि 'रुकोगी नहीं राधिका' की नायिका राधिका आधुनिक बोध की परिणति अकेलेपन, द्वन्द्व, अजनबीपन तथा अस्तित्ववादी चिंतन से प्रेरित है। वरण की स्वतंत्रता में विश्वास रखने वाली राधिका अपनी स्वतंत्र सोच व व्यक्तिगत निर्णयों के आधार पर अपने जीवन की राह स्वयं चुनती है। उषा प्रियंवदा के अन्य तीन उपन्यास 'शेष यात्रा' (1984) अंतर्वशी (2004) तथा 'भया कबीर उदास' (2007) वस्तुतः प्रवासी भारतीय स्त्री के जीवन के विभिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करते हैं। 'शेष यात्रा' तथा 'अंतर्वशी' उपन्यास में उषा प्रियंवदा ने अनु एवं वाना के माध्यम से दो संस्कृतियों के बीच संघर्ष करती स्त्री के मानस व उसके अनिर्णयों की स्थितियों में पीड़ादायी जीवन जीने की विवशता को प्रकट किया है।

#### Corresponding Author:

#### डॉ. नीरव अडालजा

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,  
 डॉ. भीम राव अम्बेडकर कॉलेज,  
 दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,  
 भारत

पश्चिमी संस्कृति व भारतीय मूल्यों के बीच जकड़ी अमरीकी समाज में रह रही भारतीय नारी की सूक्ष्म अनुभूतियों का चित्रण करते हुए लेखिका ने स्त्री-मुक्ति से जुड़े अनेक मुद्दों को उपन्यासों की मूल संवेदना बनाया है। 'भया कबीर उदास' उपन्यास में अमरीका में रह रही एक अविवाहित कॉलेज की प्राध्यापिका लिली के कैंसरग्रस्त होने के संघर्ष का भावपूर्ण चित्रण है। लिली के दार्शनिक एकालाप के माध्यम से उषा प्रियंवदा ने स्त्री जीवन से जुड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को दार्शनिक भावभूमि पर उठाया है। राजी सेठ ने 'तत-सम' (1983) तथा 'निष्कवच' (1995) दो उपन्यासों की रचना की है। 'तत-सम' में युवा विधवा वसुधा के माध्यम से स्त्री की स्वतंत्रता एवं उसके अस्तित्व के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए गए हैं। नारी-विषयक प्रश्नों को बौद्धिक स्तर पर नई आधार भूमि देने की दृष्टि से मृदुला गर्ग का उपन्यास 'कठगुलाब' (1996) विशेष रूप से चर्चा का विषय बना है। "कठगुलाब सृजन की संभावनाओं के बहुआयामी संदर्भों को विश्लेषित करने वाला उपन्यास है, विशेषकर स्त्री के संदर्भ में। उपन्यास मातृत्व विरोधी नहीं, परन्तु यह अवश्य स्थापित करता है कि मातृत्व ही स्त्री जीवन की सार्थकता नहीं है। स्त्री स्वयं को शक्ति-सम्पन्न समझे, पुरुष की सापेक्षता में अपनी पहचान खोजने में अधीनस्थ की भूमिका ही प्राप्त होगी। इस दृष्टि से 'कठगुलाब' मृत संबंधों को हादसा समझकर उससे मुक्त होती स्त्री-कथा है।"<sup>1</sup>

पिछले तीन दशकों में अनेक उपन्यास लेखिकाओं के सृजन से हिन्दी-उपन्यास का परिदृश्य न केवल बदला है, अपितु संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर ऐसे अनेक उपन्यासों की रचना हुई है जो अनेक दृष्टियों से सर्वथा नवीन एवं अत्यंत प्रभावशाली हैं। इन उपन्यासों की मूल संवेदना स्त्री-जीवन के विभिन्न पक्षों से उपजी है। पुरुष के अहं, सत्ता व वर्चस्व से मुक्ति के लिए संघर्ष करती व अपने अस्तित्व की सार्थक तलाश हेतु सजग स्त्री इन उपन्यासों के केन्द्र में है। इस संदर्भ में मृदुला गर्ग के 'चितकोबरा' (1979) ममता कालिया के 'बेघर' (1971) मेहरुन्निसा परवेज़ के 'अकेला पलाश' (1984) मृणाल पांडे के 'पटरंग पुराण' (1983) शशिप्रभा शास्त्री के 'कर्क रेखा' (1983), मीनारें (1992) नासिरा शर्मा के 'सात नदियां : एक समुन्द्र' (1984), 'शात्मली' (1987) ज़िंदा मुहावरे (1993) और 'ठीकरे की मंगनी' (1989) रमणिका गुप्ता के 'सीता' (1987) सूर्यबाला के 'दीक्षान्त' (1984) 'यामिनी कथा' (1991) नमिता सिंह के 'अपनी सलीबें' (1995) क्षमा शर्मा के 'परछाई अन्नपूर्णा' (1996) 'मोबाइल' (2000) जया जादवानी के 'तत्वमसि' (2000) जैसे उपन्यासों में स्त्री-जीवन से संबंधित अनेक जटिल प्रश्नों को उठाया गया है। प्रायः इन सभी उपन्यासों में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती तथा समाज व पुरुष की यातना झेलती हुई स्त्री के चित्रण के साथ स्त्री की उस नई छवि को भी अभिव्यक्ति मिली है, जो पुरुष के समकक्ष बराबरी की मांग करती, नए खतरों से जूझती, उत्तर आधुनिकतावादी मूल्यों से टकराती तथा पुरुष के एकाधिकारों में अपना दखल दर्ज करने में सक्षम है। इनमें एक ओर महानगरीय जीवन में घर-परिवार के दायित्व तथा आर्थिक स्वावलम्बन के लिए प्रतिबद्ध, परिवार व समाज के दोनों मोर्चों पर शोषण के खिलाफ चुनौती देती स्त्री का मार्मिक व दुखद चित्रण है तो दूसरी ओर उपभोक्तावादी संस्कृति तथा बाजारवाद के बढ़ते वर्चस्व का शिकार हो रही स्त्री के साथ होने वाले खिलवाड़ के उद्घाटन तथा उसके मूल में व्याप्त समस्याएं भी संवेदना के केन्द्र में उभर कर आई हैं। रवीन्द्र वर्मा का मानना है कि "आज औरत ही नहीं, आदमी भी पण्य वस्तु है और हमारे यहां उदासीकरण की प्रक्रिया के तहत आदमी रोज सस्ता हुआ जा रहा है। जब आदमी सस्ता होता है तो स्त्री कौड़ियों के मोल बिकती है। सामान्यतः पुरुष प्रधान समाज में दोगम दर्जे का नागरिक होने की वजह से औरत पर किसी भी सामाजिक विघटन का ज्यादा दबाव पड़ता है। वह एक ज्यादा संवेदनशील इकाई है।

उसके तारे में पूरे समाज की आह है। आज हम जिस मुकाम पर खड़े हैं उसके आगे सामंती जड़ता और उपभोक्तावादी मोह की अंधी गली है। स्त्री की नियति पूरे समाज की नियति के साथ गुंथी हुई है। एक छोटा सा दायरा मध्य व उच्च वर्ग में मुक्त होती स्त्रियों का जरूर है, लेकिन वह दलित जातियों के आरक्षण की तरह है। स्त्री जाति की मुक्ति अभी बहुत दूर है। जैसे हमारे सम्पूर्ण समाज की मुक्ति।"<sup>2</sup>

स्त्री-विमर्श से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दों को औपन्यासिक फलक पर विमर्श की परिधि प्रदान करने वाली कथा-लेखिकाओं में प्रभा खेतान का नाम भी अग्रणी है। उनके द्वारा रचित 'आओ पेपे घर चलें' (1990), 'तालाबंदी' (1991), 'अपने-अपने चेहरे' (1994), 'छिन्नमस्ता' (1993) उनके समर्थ लेखन की साक्षी भरते हैं। प्रभा खेतान की विशिष्ट पहचान दिलाने वाला उनका उपन्यास 'छिन्नमस्ता' स्त्री की यातना, वेदना, संघर्ष एवं मुक्ति के विभिन्न सोपानों का संघर्षपूर्ण यात्रा-वृत्तांत है। यह आधुनिक स्त्री का अर्थ के क्षेत्र में पुरुष की समकक्षता का यात्रा-वृत्त है। आधुनिक स्त्री अर्थ के क्षेत्र में भी पुरुष के समकक्ष अपनी उपस्थिति दर्ज करवा रही है। पति की परतंत्रता एवं दमन में पिसती स्त्री में आत्मबल, स्वाभिमान व अनेक खतरों से खेलने का अभूतपूर्ण साहस विकसित हो चुका है, जिसने उसे पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था से मिली यातना के प्रति विद्रोहिणी बना दिया है। परिवार व विवाह से अर्जित सामाजिक सुरक्षा को टुकड़ाकर स्त्री ने अपने अस्तित्व की पूर्णता व अर्थवत्ता को पाने के लिए जो विकल्प चुना है, वह बेहद संघर्ष भरा है। सामाजिक मर्यादाओं का निर्वाह करती व लोक मर्यादा के भय से अपनी पहचान खोती स्त्री आज परंपरागत रूढ़ बंधनों को तोड़कर मुक्ति के नए रास्ते तलाश रही है। पुरुष पर मानसिक व आर्थिक निर्भरता की समाप्ति की घोषणा करती आज की स्त्री पुरुष के सान्निध्य में अपने होने के अर्थ को पाने की मानसिकता से उबर रही है। 'स्वत्व' पाने के लिए कुछ खोने को तैयार वह स्वयं से प्रश्न कर रही है। 'छिन्नमस्ता' की नायिका प्रिया के शब्दों में - "नरेन्द्र से चोट लगी, अच्छा हुआ... नहीं तो मैं शायद कभी कोई प्रगति नहीं कर पाती। और सारे मुखौटों के भीतर... हां, इस्पात में ढलाई किया गया मुखौटा और उसके भीतर मोम सी पिघलने को तैयार औरत। बस, जरा सी पुरुष के प्यार की गर्मी। धत! यह भी कोई कल्पना हुई, बल्कि हम आधुनिकताओं की सूची में नित नई भूमिका जुड़ जाती है। पुरुष के क्षेत्र में आगे बढ़ती हुई हम। यह क्यों नहीं मैं स्वीकार पाती कि मुझे कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है।"<sup>3</sup>

आज की स्त्री न केवल आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में पुरुष का वर्चस्व तोड़ने में सफल हो रही है, बल्कि राजनीति के क्षेत्र में भी उसका दखल पुरुष के एकाधिकार को खत्म कर चुका है। स्त्री-विमर्श की प्रचारिका के रूप में प्रतिष्ठित समकालीन कथा-लेखिका मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास इस दृष्टि से अत्यंत चर्चा का विषय बने हैं। उनके द्वारा रचित 'स्मृति दंश' (1990) 'बेतवा बहती रही' (1993) 'इदन्नमम' (1997) 'चाक' (1997) 'झूला नट' (1999) 'अल्मा कबूतरी' (2000) विशेष रूप से चर्चित हुए हैं। इन उपन्यासों में चित्रित स्त्री-संघर्ष की एक नई जमीन का चयन करते हुए अपनी पीड़ा व संघर्ष से मुक्ति की आकांक्षा व प्रयास करती है। मैत्रेयी पुष्पा के स्त्री पात्रों की लड़ाई केवल घर व परिवार के मुद्दों तक सीमित न होकर अपने परिवेश में व्याप्त अन्याय, अत्याचार, असमानता व अनैतिकता के खिलाफ भी है। इसी ललक से प्रेरित होकर 'चाक' की नायिका सारंग अपने पति की इच्छा का उल्लंघन करती हुई गांव के प्रधान पद के लिए चुनाव का पर्चा भरती है। स्त्री की यह नई दृष्टि एवं साहसपूर्णता समाज की मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित है। देह पर स्त्री की स्वतंत्रता स्त्री-विमर्श का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। मैत्रेयी पुष्पा ने परंपरावादी छवि में घुटती स्त्री की दैहिक कामनाओं को मानवीय धरातल पर स्वीकार करते हुए उसके देह के अधिकार व

वरण की स्वतंत्रता की ज़बरदस्त समर्थन किया है। 'चाक' की रेशम, सारंग व गुलकन्दी अपने अधिकार का प्रयोग करती हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों में यौन-शुचिता एवं स्त्री-विषयक नैतिकता का प्रश्न भी समकालीन लेखिकाओं द्वारा अनेक उपन्यासों में उठाया गया है। आज की स्त्री समाज द्वारा नियत सदियों-पुरानी स्त्री-विषयक नैतिकता की धारणाओं को तोड़कर नैतिकता की नई परिभाषा की मांग कर रही है। वह न केवल अपनी देह, अपितु कोख पर भी अपना सम्पूर्ण अधिकार चाहती है। 'चाक' की युवा विधवा रेशम अपने प्रेमी से गर्भवती होकर अपने अधिकार की मांग करती है, तो उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'अंतर्वशी' की वाना अपने पति शिवेश की मानसिक दासता से मुक्ति की आकांक्षा लिए अपने प्रेमी राहुल से गर्भवती हो जाती है। वह न तो भय का अनुभव करती है और न ही ग्लानि का। लेखिका के शब्दों में – "वह राहुल से प्यार करती है। इसलिए नहीं, कि यह शिवेश को इस स्थिति में अकेले छोड़ रही है। पर हरेक पर उसका हक है, उस पर मांग है। इस स्वाति शिशु का भी, जिसे वह रक्त से पाल पोस रही है, राहुल का; जो इसका पिता है। वह केवल शिवेश की पत्नी मात्र नहीं; उसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है।"<sup>4</sup> स्त्री की देह व उसकी कोख से जुड़े सवालों के साथ स्त्री का केवल भोग की वस्तु मान लिए जाने के प्रति अपने स्त्री-पात्रों के माध्यम से कड़ा विरोध करने वाली लेखिकाओं की कड़ी में चित्रा मुद्गल के उपन्यास अत्यधिक महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। उनके उपन्यासों 'एक जमीन अपनी' (1990) 'आवां' (1999) तथा 'गिलिगुड' (2002) में चित्रित महानगरीय जीवन के अनेक मोर्चों पर संघर्ष करती स्त्री की यातना व वेदना बड़े मार्मिक स्तर पर अभिव्यक्त हुई है। 'आवां' उपन्यास में अनेक स्त्री पात्रों के माध्यम से पितृसत्तात्मक व्यवस्था एवं पुरुष के वर्चस्व के कारण त्रास में पिसती स्त्री की वेदना कथानक का केन्द्र-बिंदु है। उपन्यास की नायिका नमिता के माध्यम से लेखिका ने स्त्री की कोख पर उसके अधिकार से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। घर, परिवार, कार्यालय, राजनीति तथा व्यक्तिगत स्तर पर 'आवां' के अनेक स्त्री पात्र सामाजिक विडम्बना व स्त्री होने की नियति के फलस्वरूप विभिन्न विकट परिस्थितियों के आवां में तपने के लिए अभिशप्त है। महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज एवं व्यवस्था जन्य तमाम परिस्थितियों में यातना, अपमान, पीड़ा, तिरस्कार व धोखा पाने वाली केवल स्त्री है, पुरुष नहीं। समकालीन लेखिकाओं ने व्यवस्था के इन तमाम कुचक्रों से स्त्री की मुक्ति का प्रयास किया है।

पिछले कुछ वर्षों में जिन युवा कथा-लेखिकाओं ने उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी विशेष पहचान बनाई है, उनमें गीतांजलि श्री का नाम भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'माई' (1997) उपन्यास के माध्यम से चर्चा में आई गीतांजलि श्री ने स्त्री की पहचान की सार्थकता का प्रश्न बड़ी शिद्दत से उठाया है। परिवार की धुरी माने जाने वाली 'माई' उपन्यास की माई की रीढ़ की हड्डी इतनी कमज़ोर है कि वह अंत तक मूक बनी सब कुछ सहती है। यह उसकी स्त्री होने की नियति है, जिसका दुखद चित्रण गीतांजलि श्री ने 'माई' उपन्यास के माध्यम से किया है। 'हमारा शहर उस बरस' (1998) 'तिरोहित' (2001) तथा 'खाली जगह' (2006) उनके अन्य स्मरणीय उपन्यास हैं।

स्त्रीगत संवेदना की धुरी पर सृजित उपन्यासों में जहां कथ्य के स्तर पर नारी जीवन से जुड़े विभिन्न अनछुए पहलुओं को शामिल किया गया है, वहीं उपन्यास के शिल्प के स्तर पर भी उपन्यास लेखिकाओं के द्वारा किए गए प्रयोग अत्यंत अनूठे बन पड़े हैं। इस दृष्टि से मैत्रेयी पुष्पा, अल्का सरावगी, चित्रा मुद्गल, गीतांजलि श्री इत्यादि का योगदान विशिष्ट माना जा सकता है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'इदन्नमम' तथा 'चाक' उपन्यास में आंचलिकता का प्रयोग करते हुए विन्ध्य अंचल को उसकी विशिष्टता एवं सम्पूर्ण रंगों में इस खूबसूरती व व्यापकता में उभारा है कि इस अंचल का समस्त समाज अपनी तमाम विद्रूपताओं के साथ प्रकट

हुआ है। लोकगीतों तथा स्थानीय बोली का प्रयोग इन उपन्यासों को अत्यधिक प्रामाणिक बनाता है। शिल्प की दृष्टि अल्का सरावगी का उपन्यास 'कलिकथा : वाया बायपास' परंपरागत औपन्यासिक शिल्प को तोड़कर बिल्कुल एक नए फ्रेम में कथानक गढ़ने का अभूतपूर्व एवं सफल प्रयोग है। उपन्यास के नायक किशोर बाबू के जीवन को अलग-अलग तीन चरणों के कालक्रम में बुनने वाले इस उपन्यास में शिल्प की नई टेकनीक का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। शिल्प की नई टेकनीक व भाषिक संरचना के कौशल की दृष्टि से गीतांजलि श्री का उपन्यास 'तिरोहित' भी विशिष्ट बन पड़ा है। भाषिक सौंदर्य के अनेक नए प्रयोग गीतांजलि श्री के 'माई' उपन्यास में भी दिखाई देते हैं। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' की भाषा सृजनात्मकता की दृष्टि से बेहद प्रभावित करती है।

समकालीन स्त्री रचनाकारों ने अपने उपन्यासों में स्त्री-विमर्श का जो स्वर उठाया है, वह उनके अपने अनुभव की जमीन से उपजा है। 'ग्लोबल' विषय होने के बावजूद यह पूरी तरह पश्चिम का अधानुकरण नहीं है। स्त्री रचनाकारों ने स्त्री की जिस पीड़ा व दमन का अनुभव किया है, उन्मुक्त आकाश में विचरने के लिए जिन सुख-स्वप्नों की कल्पना की है, भारत के ठेठ ग्रामीण समाज में स्त्री की जो विपन्नताएं हैं और भारत की महानगरीय संस्कृति में घनाढ्यता के मध्य स्त्री की जो उच्चवर्गीय छवियां विकसित हुई हैं, उन सबकी सम्मिलित संवेदना समकालीन उपन्यास लेखिकाओं के लेखन में स्त्री-विमर्श के रूप में अभिव्यक्त हुई है। समकालीन लेखिकाओं द्वारा स्त्री-विमर्श का महत्वपूर्ण पक्ष स्त्री-देह का उन्मुक्त चित्रण एवं यौन संबंधों की उन्मुक्तता का अभिव्यक्तिकरण विशेष रूप से आलोचना का विषय बना है। इस संदर्भ में प्रभा खेतान का मानना है कि— "स्त्री मुक्ति आंदोलन को महज स्त्री की किसी एक भूमिका में न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता। राजनीतिक दृष्टि से ही सही, यौनिकता को संहिताबद्ध करना संभव भी नहीं, क्योंकि स्त्री को दमन से मुक्त करने हेतु भिन्न यौन संसर्गों को भी महत्व देना होगा, पहचान देनी होगी।"<sup>5</sup> आलोचकों ने कुछ लेखिकाओं द्वारा प्रस्तुत स्त्री देह-विमर्श को बाजारावदी संस्कृति की उपज एवं विवशता माना है। कुछ आलोचक स्त्री-देह संबंधी चित्रणों को 'आयतित' तथा 'आरोपित' मानते हैं। उनके अनुसार ये चित्रण न तो स्मरणीय बनते हैं और न ही औपन्यासिक उपलब्धि में सहायक। इस खतरे से आगाह करते हुए अरुण प्रकाश लिखते हैं कि, "हिन्दी का नारीवादी लेखन अभी शैशव काल से गुजर रहा है। वह परिपक्व होगा, तभी जब वह सामूहिक मुक्ति का स्वप्न अपने मन में बिठाए। स्त्री की दासता मर्दवादी सभ्यता का कलंक है। कलंक जितनी जल्दी धुल जाए उतना ही अच्छा। लेकिन नारीवादी लेखन को मर्दवादी बाजार, सौन्दर्य मूल्य, भाषा और संस्कृति के प्रबंधकों से बचना होगा।"<sup>6</sup> श्रीलाल शुक्ल के अनुसार, "नारी मुक्ति को लेकर लिखा गया अधिकांश कथा-साहित्य व्यावसायिक क्षेत्र में पुरुष से प्रतिस्पर्द्धा और उसकी ईर्ष्या, पारस्परिक विवाह प्रथा का खण्डन, प्रत्याख्यान, यौन-शुचिता की अवधारणा का प्रत्याख्यान, देहज प्रथा की विकटता आदि अलग-अलग मुद्दों पर ही केन्द्रित होकर रह जाता है। भारतीय जनता में समग्र रूप से नारी की स्थिति का नक़्शा हमारा साहित्य भी देते चूक जाता है। जिस तरह इस दिशा में पूरे समाज और राजनीतिक का चिन्तन चूक रहा है।"<sup>7</sup>

अभिप्राय यह है कि साहित्य के माध्यम से नारी की वास्तविक स्थिति व उससे जुड़े अनेक मुद्दों का समग्र एवं सूक्ष्म चिंतन होना अभी शेष है। इसके बावजूद इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य-लेखन का केन्द्र बने नारी-विमर्श से जुड़े मुद्दों के माध्यम से इस दिशा में एक महत्वपूर्ण एवं सार्थक पहल हो चुकी है। रेखा कस्तवार के शब्दों में – "महत्वपूर्ण यह है कि नगण्य ही सही, स्त्रियों ने अपने लिए सांस लेने की जगह तो बनाई है। ये थोड़ी सी स्त्रियां, पितृसत्ता से बाहर जाती स्त्रियां,

बोलती हुई स्त्रियां, इन्कार करती स्त्रियां निश्चय ही नींव का पत्थर साबित होंगी। व्यक्तिगत विद्रोह की अभिव्यक्ति सामाजिक विद्रोह की पर्याय भले ही न बने, संभावना अवश्य बनती है।<sup>8</sup> अतः इस दिशा में अभी अनेक नए क्षितिज तलाशने शेष हैं। अस्तु, हिंदी की उपन्यास-यात्रा में 'स्त्री' को केन्द्र में रखने पर तीन चरण बहुत आसानी से देखे जा सकते हैं। पहला चरण सुधारवादी है, दूसरा यथार्थवादी तथा तीसरा स्त्रीवादी। पूरी तरह से मुक्त स्त्री का अवतरण न तो भारतीय समाज में अभी तक हो पाया है और इसलिए उसके चित्रण को समर्पित उपन्यास अभी तक नहीं लिखा जा सका है। समकालीन हिंदी-उपन्यास में जो स्त्रीत्व प्रतिबिम्बित हुआ है, उसके भी तीन अभिलक्षण हैं। एक स्थिति 'अवमानना' की है। दूसरी स्थिति दमन और यौन शोषण की है, परवशता और दासता की है। तीसरी स्थिति शिक्षित, कामकाजी स्त्री की है, जो घर से बाहर निकलती है, पुरुष के हमले सहती है और अपने अधिकारों के प्रति सचेत होकर उनकी दृढ़ता से मांग करती है। इस औपन्यासिक सृजन-कर्म में कहीं-कहीं पुरुष अनावश्यक भी घोषित हुआ है और कहीं-कहीं अपनी उदात्तता और पारस्परिक अतरंगता के साथ काम्य भी माना गया है। जिस स्त्रीभाषा की वकालत करते हुए पश्चिम में माना गया था कि स्त्री को स्वयं भाषा बन जाना चाहिए, एक संपूर्णता में स्त्रीभाषा, जिसमें शब्द अर्थ को ढोकर न लाते हों, अपितु शब्दों में स्त्री ही खिंची चली आती हो, उसकी शब्दावली केवल बहिरंग को उजागर न करती हो, अपितु उसका अनुभव शब्दों में तैर रहा हो, वह स्त्रीभाषा इन उपन्यासों में ईजाद हो रही है। इन उपन्यासों को पढ़कर यह प्रतीति तो होती ही है। इसलिए इनका रचना-शिल्प भी अनूठा है, स्त्री को दूसरेपन से मुक्त करता हुआ उसके 'अपनेपन' में उसे तलाश रहा है।

### संदर्भ सूची

1. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2006, पृ. 188.
2. रवीन्द्र वर्मा, 'ताकत का खेल' (लेख) उद्धृत, स्त्री के लिए जगह, (सं.) राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, सन् 1994, पृ. 111-112.
3. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2004, द्वितीय संस्करण, पृ. 222.
4. उषा प्रियंवदा, अंतर्वशी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2004, पृ. 237.
5. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् 2003, पृ. 145.
6. अरुण प्रकाश, 'स्त्री, मन और देह' (लेख) उद्धृत, स्त्री : मुक्ति का सपना, (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन, सन् 2004, पृ. 66.
7. श्री लाल शुक्ल, (लेख) उद्धृत स्त्री : मुक्ति का सपना, (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, पृ. 519-520.
8. रेखा कस्तवार, 'अकेली स्त्री' (लेख) उद्धृत, स्त्री : मुक्ति का सपना, (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, पृ. 113.